संस्मरण : स्कूल के वो दिन

-डॉ. महेंद्र कुमार बुनकर
पीएच.डी, एम.ए., बी.ए., JRF-NET, TGT संस्कृत, GBSSS भारत नगर, दिल्ली
https://sahityacinemasetu.com/sansmaran-school-ke-wo-din/

पाँचवीं तक घर से तख्ती लेकर स्कूल गए थे। स्लेट को जीभ से चाटकर अक्षर मिटाने की हमारी स्थाई आदत थी। इस पापबोध के साथ कि विद्यामाता नाराज न हो जायें, कक्षा के तनाव में पेन्सिल का पिछला हिस्सा चबाकर ही हमनें तनाव मिटाया था। स्कूल में टाट-पट्टी की अनुपलब्धता में घर से बोरी का टुकड़ा बैठने के लिए बगल में दबा कर भी साथ ले जाते थे। कक्षा छः में पहली दफा हमने अंग्रेजी का ऐल्फाबेट पढ़ा और पहली बार एबीसीडी देखी

स्मॉल लेटर में बढ़िया एफ बनाना हमें बारहवीं तक भी न आया था। करसीव राइटिंग भी कॉलेज में जाकर ही सीख पाये। उस जमाने के हम बच्चों की अपनी एक अलग ही दुनिया थी, कपड़े के थैले में किताब और कापियाँ जमाने का विन्यास हमारा अधिकतम रचनात्मक कौशल था। तख्ती पोतने की तन्मयता हमारी एक किस्म की साधना ही थी। हर साल जब नई कक्षा के बस्ते बंधते (नई कॉपी-किताबें मिलती) तब उन पर जिल्द चढ़ाना हमारे जीवन का स्थाई उत्सव था। सफेद शर्ट और खाकी पेंट में जब हम माध्यमिक कक्षा पहुँचे तो पहली दफा खुद के कुछ बड़े होने का अहसास तो हुआ लेकिन पेंट पहन कर हम शर्मा रहे थे, मन कर रहा था कि वापस निकर पहन लें।

साइकिल से रोज़ सुबह कतार बना कर चलना और साइकिल की रेस लगाना हमारे जीवन की अधिकतम प्रतिस्पर्धा थी। हर तीसरे दिन पम्प को बड़ी युक्ति से दोनों टांगो के मध्य फंसाकर साईकिल में हवा भरते मगर फिर भी खुद की पेंट को हम काली होने से बचा न पाते थे। स्कूल में पिटते, कान पकड़ कर मुर्गा बनते मगर हमारा ईगो हमें कभी परेशान न करता। हम उस जमाने के बच्चे शायद तब तक जानते नही थे कि ईगो होता क्या है। क्लास की पिटाई का रंज अगले घंटे तक काफूर हो जाता और हम अपने पूरे खिलंदड़ेपन से हंसते पाए जाते।

रोज़ सुबह प्रार्थना के समय पीटी के दौरान एक हाथ फासला लेना होता, मगर फिर भी धक्का मुक्की में अड़ते भिड़ते सावधान विश्राम करते रहते। हम उस जमाने के बच्चे सपनें देखने का सलीका नही सीख पाते थे, अपनें माँ बाप को भी ये कभी नही बता पाते थे कि हम उन्हें कितना प्यार करते हैं, क्योंकि “आई लव यू मॉम-डैडी” नहीं आता था।

हम उस जमाने से निकले बच्चे गिरते सम्भलते लड़ते भिड़ते दुनिया का हिस्सा बने हैं। कुछ मंजिल पा गये हैं तो कुछ यूँ ही खो गए हैं। पढ़ाई फिर नौकरी के सिलसिले में लाख शहर में रहें लेकिन जमीनी हकीकत जीवनपर्यन्त हमारा पीछा करती रहती रहती है। अपने कपड़ों को सिलवट से बचाए रखना और रिश्तों को अनौपचारिकता से बचाए रखना हमें नहीं आता है। अपने अपने हिस्से का निर्वासन झेलते हम बुनते है कुछ आधे अधूरे से ख़्वाब और फिर जिद की हद तक उन्हें पूरा करने का जुटा लाते है आत्मविश्वास। कितने भी बड़े क्यूँ न हो जायें हम आज भी दोहरा चरित्र नहीं जी पाते हैं, जैसे बाहर दिखते हैं, वैसे ही अन्दर से होते हैं। हम थोड़े अलग नहीं, पूरे अलग होते हैं। कह नहीं सकते हम बुरे थे या अच्छे थे।